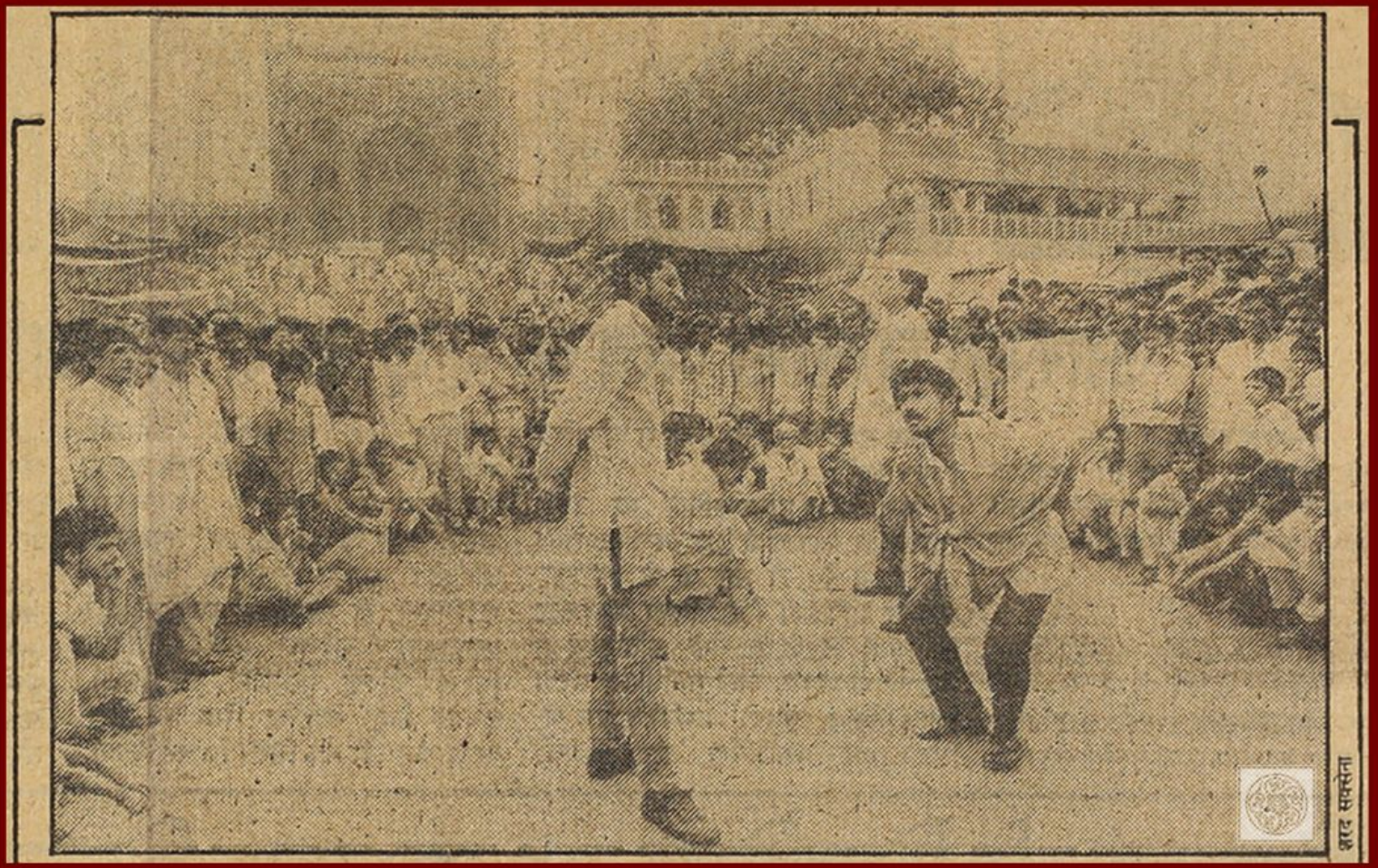

"जन संचार माध्यमों के विस्फोटक प्रसार के युग में सर्जनात्मक रचनाकारों के मन में यह आशंका या चिन्ता होना बहुत अनुचित नहीं है कि कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, संगीत, नृत्य आदि कलाओं का क्या भविष्य है? आने वाले दौर में इन कलाओं का क्या रूप होगा? क्या वह पूरी तरह जन संचार–माध्यमों के द्वारा ही निर्धारित होगा? इनकी कोई स्वतंत्र अस्मिता या प्रासंगिकता बचेगी? या ये निरी अजायबघरी वस्तुएं बनकर रह जाएंगी?"

16/08/1989, Navbharat Times, New Delhi

संचार माध्यम और कलाओं का भविष्य

नेमिचन्द्र जैन

जन संचार माध्यमों के विस्फोटक प्रसार के इस युग में सर्जनात्मक रचनाकारों के मन में यह आशंका या चिन्ता होना बहुत अनुचित नहीं है कि कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, संगीत, नृत्य आदि कलाओं का क्या भविष्य है? आने वाले दौर में इन कलाओं का क्या रूप होगा? क्या वह पूरी तरह जन संचार-माध्यमों के द्वारा ही निर्धारित होगा? इनकी कोई स्वतंत्र अस्मिता या प्रासंगिकता बचेगी? या ये निरी अजायबघरी वस्तुएं बनकर रह जाएंगी?

अचरज नहीं कि इन सवालों के जवाब के बारे में रचनाकार एकमत नहीं हैं। कुछ का कहना है कि इस माध्यम-विस्फोट के बाद न तो कलाएं जैसी थीं, वैसी रह सकेंगी, न ही जिंदगी में उनकी पहले जैसी जगह रह जाएगी। इसलिए अब संचार-माध्यमों की मौजूदगी को स्वीकार करके, उसके अनुकूल अपने को ढाल कर ही वे जीवित रह सकती हैं। रचनाकारों को उनकी निंदा-भर्त्सना करने या उनको ठुकराने के बजाय उनको अपनाकर अपनी रचना-पद्धति में आवश्यक परिवर्तन कर लेने चाहिएं। उनका तर्क है कि धीरे-धीरे सभी दर्शक या श्रोता संचार-माध्यमों के आदी होते जा रहे हैं और उनका सहारा लिए बिना रचनाएं चन्द लोगों तक ही सीमित हो जाएंगी।

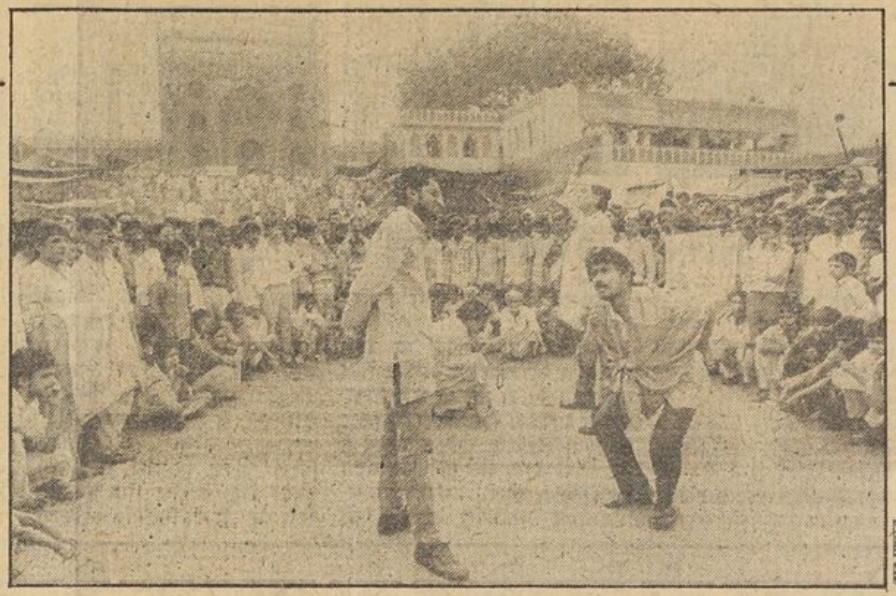

हरद सक्सेना

नाटक में इस शिल्प-तिरस्कार का एक रूप रंगशाला बनाम नुक्कड़ नाटक की बहस में दिखाई पड़ता है। पिछले दिनों ऐसे रंगकर्मियों की संख्या लगातार बढ़ी है जो नुक्कड़ नाटकों को ही वर्तमान और भविष्य का मुख्य नाट्य प्रकार मानते हैं, उनके लिए परिश्रमपूर्वक अभ्यास करके अभिनय या प्रस्तुतीकरण की सूक्ष्मताओं को समझना-सीखना, या लंबे समय तक पूर्वाभ्यास करने के लिए आग्रह करना, या इन कामों को महत्व देना एक कलावादी बूर्जुआ कुसंस्कार है जो नाटक और रंगमंच को सामाजिक सार्थकता से अलग करता है।

कुछ अन्य का कहना है कि संचार-माध्यमों से जुड़ते ही कलाएं उपभोक्ता संस्कृति का हिस्सा बनने लगेंगी। उनकी विशिष्ट, अपनी अलग पहचान और मानवीय सार्थकता खत्म हो जाएगी, भले ही वे पैसा-कमाऊ अधिक हो जाएं। इसलिए सच्चे, गंभीर रचनाकार को संचार-माध्यमों के आकर्षण व प्रलोभन से बचना चाहिए। उनसे अलग रहकर ही वह अपनी रचनाधर्मी अस्मिता की रक्षा कर सकेगा। उनका यह भी कहना है कि संचार-माध्यम पर या तो बड़ी पूंजी का अधिकार है या उसकी समर्थक सरकार का। इसलिए सामाजिक परिवर्तन या मानवीय मूल्यों की पक्षधर रचनाओं को उनमें जगह मिलना असंभव है।

एक हद तक शायद इन दोनों ही धारणाओं में कुछ सचाई है। मगर ये दोनों ही संचार-माध्यमों और रचना के बारे में कुछ बुनियादी पक्षों की या तो उपेक्षा करती हैं या उन्हें महत्व नहीं देतीं। पहले माध्यमों को ही लें। बुनियादी तौर पर सभी माध्यम — फिल्म, दूरदर्शन, रेडियो, वीडियो, रंगमंच, अखबार या कला दीर्घा — अपने आप में संप्रेषण के साधन या संवाहक भर होते हैं उनकी अपनी कोई वस्तुविषयक पक्षधरता नहीं होती। ऐसी पक्षधरता या तो इन साधनों का इस्तेमाल करनेवालों की होती है, या अगर इनके लिए बड़ी पूंजी की जरूरत हो तो उनके मालिकों की। यह ठीक है कि इन माध्यमों की अपनी विशेष प्रकृति या जटिलता के कारण प्रयोग की पद्धतियों या सम्प्रेषण के रूप के संबंध में कुछ सीमाएं होती हैं। पर इन तकनीकी सीमाओं के भीतर उनके द्वारा किसी भाव या विचार वाली रचना का प्रसारण किया जा सकता है। हम जानते हैं कि इन साधनों से हर तरह की रचना प्रसारित होती रही है। कम-से-कम अखबार, रंगमंच और फिल्म में तो श्रेष्ठ से श्रेष्ठ और घटिया से घटिया कथ्य का प्रसारण होता रहा है और आज भी होता है। रेडियो और दूरदर्शन हमारे देश में सरकारी एकाधिकार में चलते हैं। इस कारण उन पर बंदिशें अधिक हैं। पर कल्पनाशीलता और रचनात्मक विवेक होने पर एक सीमा तक उनका भी उपयोग जागरूकता पैदा करने के लिए किया जा सकता है और किया जाता रहा है। तानाशाही में जीने वाले देशों के रचनाकार बहुत बार बड़ी सूक्ष्मता और प्रभावोत्पादकता के साथ इन माध्यमों का कुछ प्रयोग करने में सफल हुए हैं। इसलिए संचार-माध्यमों से भयभीत होना, उनको सिद्धान्ततः अछूत मानकर बहिष्कार करने की क्रांतिकारी दीखने वाली मुद्रा अपनाना बेमानी ही नहीं, आत्मवंचना है।

माध्यमों के संदर्भ में महत्वपूर्ण बात है उनकी तकनीकी सीमाओं और संभावनाओं की पहचान, समझ और उनके अनुकूल कथ्य की बुनावट। अगर हम केवल पढ़ी जाने योग्य रचना को रंगमंच, रेडियो या दूरदर्शन पर प्रसारित करना चाहेंगे, रंगमंच को फिल्म और दूरदर्शन-जैसा बनाना चाहेंगे, या फिल्म और दूरदर्शन को रंगमंच या छपी हुई पत्रिका-जैसा तो हर बार हमें असफलता और निराशा ही हाथ लगेगी। संचार माध्यमों की सीमाओं और संभावनाओं की गहराई से तलाश कर इनके लिए उपयुक्त अभिव्यक्ति के नए रूप, नई भाषा, उसके नए अंदाज और तेवर विकसित करना जरूरी है। तभी उनका सर्जनात्मक उपयोग संभव है।

हमारे रचनाकार अपने को जितना ज्यादा क्रांतिकारी समझते हैं उतने ही कला के प्रति अधिक उदासीन या लापरवाह होते जाते हैं। बल्कि किसी भी प्रकार के कलात्मक प्रयोग या अन्वेषण को 'कलावाद' कहकर उसकी निंदा करना क्रांतिकारी होने की पहचान मानते हैं। नतीजा यह है कि हिंदी में अधिकांश लेखन स्थूल, इकहरा और एकरसता से आक्रांत होता जाता है। उसमें से ज्यादातर तो पढ़े जाने योग्य तक नहीं होता, किसी दूसरे अधिक जटिल और विशेषीकृत माध्यम के उपयुक्त होना तो दूर की बात है। इसी तरह हमारे नाटककार और रंगकर्मी या तो इतना चलताऊ और सतही काम करने के अभ्यस्त हैं कि दर्शकों को आकर्षित ही नहीं करते। या फिर नाटकों से फिल्म या दूरदर्शन के धारावाहिकों का काम लेना चाहते हैं। ऐसी हालत में दर्शक असली धारावाहिक या फिल्म ही क्यों न देखे? घटिया नाटक के धारावाहिकी आलेख की मंच पर अधकचरी और नीरस प्रस्तुति देखने के लिए क्यों समय, शक्ति और धन बर्बाद करे?

दरअसल, हिन्दी में लेखकीय शिल्प, रूप-सौष्ठव और भाषा के निखार के लिए प्रयोग और अभ्यास की बड़ी भयावह स्थिति है। अक्सर भाषा अखबारी ढंग की घिसी-पिटी होती है, या व्याकरण और मुहावरे की अक्षम्य भूलों के कारण अपठनीय। कविता में तो संरचना अथवा छंद, लय या विन्यास के बारे में ऐसी लापरवाही दीख पड़ती है कि वह न पद्य लगती है, न गद्य, कविता तो नहीं ही होती है। दिलचस्प बात यह है कि इसके लिए सैद्धांतिक आधार और समर्थन भी जुट जाता है। बहुत-से नौजवान लेखक बड़ी निष्ठा से यह मानते हैं कि भाषा, रूप और शिल्प की इच्छा या चिन्ता लेखक को क्रांतिकारी सामाजिक यथार्थ की पहचान से अलग करने और भटकानेवाली पतनशील सामंतवादी या पूंजीवादी प्रवृत्ति है।

नाटक में इस शिल्प-तिरस्कार का एक रूप रंगशाला बनाम नुक्कड़ नाटक की बहस में दिखाई पड़ता है। पिछले दिनों ऐसे रंगकर्मियों की संख्या लगातार बढ़ी है जो नुक्कड़ नाटकों को ही वर्तमान और भविष्य का मुख्य नाट्य प्रकार मानते हैं, और रंगशालाओं में होनेवाले प्रदर्शनों या नियमित रंगमंडलों को सामंती-पूंजीवादी रंगमंच बताकर खारिज कर देते हैं। उनके लिए परिश्रमपूर्वक अभ्यास करके अभिनय या प्रस्तुतीकरण की सूक्ष्मताओं को समझना-सीखना, या लंबे समय तक पूर्वाभ्यास करने के लिए आग्रह करना, या इन कामों को महत्व देना एक कलावादी बूर्जुआ कुसंस्कार है जो नाटक और रंगमंच को सामाजिक सार्थकता से अलग करता है। नुक्कड़ नाटक के आन्दोलन में ऐसे भी लोग हैं जो उसे इस युग का सर्वश्रेष्ठ नाट्य प्रकार मानते हैं और अब उसका अपना अलग सौंदर्यशास्त्र रचने में लगे हैं। कुल मिलाकर किसी भी प्रकार के अनुशासन, अभ्यास और परिश्रम का सिद्धान्तवादी तिरस्कार आज हिंदी क्षेत्र के अनेक लेखकों और रंगकर्मियों का आम सम्मान बनता जा रहा है।

ऐसी हालत में विभिन्न संचार-माध्यमों के लिए प्रभावकारी और संभव कलारूपों की परिश्रमपूर्वक तलाश करने का क्या सवाल उठता है? बल्कि अक्सर यह संदेह होता है कि उनके बारे में चर्चा — उनकी प्रशंसा या निंदा — उनमें किसी तरह प्रवेश पाने के उद्देश्य से की जा रही है। यह भी देखा गया है कि कई लेखक या रंगकर्मी पहले तो पैसे के लिए संचार-माध्यमों में घुसपैठ की कोशिश करते हैं या करना चाहते हैं, और असफल होने पर सैद्धांतिक चर्चा करने लगते हैं। पैसे के लिए इन माध्यमों पर अपने लेखकीय कौशल का इस्तेमाल कोई ऐसी निंदनीय बात भी नहीं। पर उसको लेकर क्रांतिकारी जुमलेबाजी का घटाटोप पैदा करना एक ओर ढोंग और पाखंड है तो दूसरी ओर माध्यमों की सीमाओं और संभावनाओं से जूझने में अक्षमता। वास्तव में रचना और रचनात्मकता को खतरा माध्यमों से इतना नहीं जितना रचनाकारों में व्याप्त [illegible] भ्रान्तियों और सरलीकरणों से है।